International Journal of Research
Special Issue for UGC Approved Journal-Hindi Papers
Available at https://edupediapublications.org/journals
e-ISSN: 2348-6848
p-ISSN: 2348-795X
Volume 05 Issue 05
March 2018

मुक्तक काव्य के विकास में कबीर, रैदास, दादूदयाल के साहित्य की भूमिका

डॉ0 श्रुति सुधा आर्या (अतिथि प्रवक्ता)
विधि विभाग
महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक।

शोध–आलेख सारः– मुक्तक शब्द का अर्थ है, 'अपने आप में सम्पूर्ण' अर्थात एक ऐसा काव्य जो स्वयं में ही पूरा हो तथा उससे पहले किसी कथा या विशिष्ट छंद का कोई समावेश न हो। आमतौर पर हिन्दी समाज में रीतिकालीन मुक्तक की बात तो बहुत अधिक की जाती है किन्तु देखने की बात यह है कि मुक्तक का प्रयोग संस्कृत काव्य परम्परा से आरंभ होकर क्रमशः आदिकाल तथा भक्तिकाल में भी दिखाई पड़ता है। भक्तिकाल में तो वैसे भी भाषा को 'बहता नीर' कहा गया है। अतः 'बहता नीर' तो है ही 'मुक्ति' का द्योतक। यही कारण है कि शास्त्रीय ज्ञान से मुक्त होकर भी यह कविता लोक भाषा का महत्त्वपूर्ण दस्तावेज बनकर हमारे सामने आती है। बात कबीर, रैदास तथा दादूदयाल की करें तो ये तीनो संत कवि मुक्तक काव्य को किसी काव्यगत इच्छा के साथ आगे नहीं बढ़ा रहे अपितु यह सम्पूर्ण काव्य उनके संप्रेषण का माध्यम मात्र बनकर सामने आया है। अपनी सहज प्रतिभा के बल पर ये तीनों कवि न केवल मुक्तक काव्य की सृष्टि करते हैं अपितु अनेकानेक प्रयोग भी करते हुए दिखाई पड़ते हैं।

मुख्य शब्द – मुक्तक, विधा, प्रबंध, कविता, मध्यकाल, कबीर, रैदास, दादू।

''मुक्तक काव्य के विकास में कबीर, रैदास, दादूदयाल के साहित्य की भूमिका''

यदि प्रबंध एक विस्तृत वनस्थली है, तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता है। इसी से यह समाजों के लिए अधिक उपयुक्त होता है।

– आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

साहित्य जगत में काव्य को मुख्यतः दो भागों में बांटा गया है – दृश्य तथा श्रव्य। दृश्य काव्य का संबंध जहाँ नाटकादि से है वहीं श्रव्य काव्य कविता है। ''बन्ध की दृष्टि से भारतीय समीक्षा पद्धति में श्रव्यकाव्य के दो भेद किये गए हैं – एक प्रबंध और दूसरा मुक्तक।''[1] जहाँ तक मुक्तक काव्य की बात है ''मुक्तक काव्य, खंड अनुभूतियों का काव्य होता है। इसमें किसी एक भावदशा, रस अवस्था, किसी एक तथ्य, वस्तु या परिस्थिति का एक ही छंद में चित्रण होता है। कोई पूर्वापर प्रसंग नहीं होता, प्रत्येक छंद या कविता अपने में पूर्ण होती है।''[2]

वास्तव में मुक्तक एक ऐसी रचना है जो वैदिक काल से ही अस्तित्व में रही है। न केवल भारतीय आलोक अपितु पाश्चात्य जगत भी इससे अछूता नहीं है। मोटे तौर पर देखने पर हमें यह ज्ञात होता है कि ''जिस जाति की रचनाओं को संस्कृत और हिन्दी में मुक्तक कहा जाता है। उनको अंग्रेजी में प्रचलन की दृष्टि से लिरिक कहते हैं।''[3] भारतीय संदर्भ में श्रव्य काव्य के दोनों भेद अर्थात् प्रबंध काव्य तथा मुक्तक काव्य अपनी आरम्भिक अवस्था में ही सृजनात्मकता के स्तर पर स्पष्ट हो गए थे तथा ईस्वी सन् की छठी शताब्दी तक जाकर तो वे शास्त्रीय विचारणा के अन्तर्गत भी आ चुके थे किन्तु ''यूरोपीय साहित्य में पुनर्जागरण के पूर्व इस संबंध में बहुत ही अस्पष्ट धारणा थी। ग्रीक विचारक जिसमें अरस्तू का मुख्य स्थान है, महाकाव्य (एपिक) और त्रासदी (ट्रेजिक) नाटकों के अतिरिक्त अन्य प्रकार के स्फुट काव्यों की सत्ता की बहुत अस्पष्ट धारणा प्रस्तुत करते हैं। वे कामदी नाटकों, स्तोत्र काव्यों (डिथ्रियोम्बिक्स), मंत्र काव्य (नोम्स) तथा व्यंग्य काव्य (सटायर) की चर्चा मात्र करते हैं।''[4] इससे इतर भारतीय संदर्भ में मुक्तकों पर प्रमाणिक बात करते हुए हमें यह ज्ञात होता है कि ''वह एक निश्चित काल खण्ड की खंडशः प्राप्त आकस्मिक विभूति न होकर सुदीर्घकाल – परम्परा में विकसित होने वाले वैदिक, पालि, प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश की काव्यधाराओं में पोषित–विकसित मुक्तक रूढ़ियों का विकास हैं।''[5]

वास्तव में मुक्तक शब्द का अर्थ ही है, 'अपने आप में सम्पूर्ण' अर्थात् एक ऐसा काव्य जो स्वयं में ही पूरा हो तथा उससे पहले किसी कथा या विशिष्ट छंद का कोई समावेश न हो। विकास के स्तर पर यदि बात संस्कृत काव्य परम्परा से आरम्भ करें तो मुक्तक शब्द का प्रयोग सबसे पहले आनंदवर्धन के यहाँ दिखाई पड़ता है। यहाँ मुक्तक शब्द के आरम्भ होने का अभिप्रेत यह कदापि नहीं है कि इससे पूर्व किसी को मुक्तक काव्य का ज्ञान ही नहीं था अपितु तथ्य यह है कि इससे पूर्वकाल तक इसे अन्य नाम से पुकारा गया है। जैसे आचार्य दण्डी इसके लिए 'अनिबद्ध काव्य' शब्द का प्रयोग कर मुक्तक के प्रमुख भेद भी बताते हैं। ''अग्निपुराण के अनुसार भी, 'मुक्तकःश्लोक एवैकश्चमत्कारक्षमः सताम्'' अर्थात् मुक्तक में एक ही श्लोक चमत्कार उत्पन्न करने में पूर्णतः सक्षम होता है।''[6] आगे 'साहित्यदर्पण' में भी कहा गया है कि, ''छंदोबद्धपदं पद्यं तेन मुक्तेन मुक्तकम्' अर्थात् जो अन्य पद्यों के संबंध से मुक्त हो वह मुक्तक कहलाता है। अभिनवगुप्त के अनुसार ''पूर्वापर निरपेक्षेणापि हि येन रस चर्वणाक्रियते तदेव मुक्तम्'' अर्थात् पूर्वापर निरपेक्ष होते हुए भी जिसके द्वारा रस चर्वणा करायी जाती हो, वही मुक्तक कहलायेगा।''[7]

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने जिस 'केशवराव' नामक हिन्दी कवि को मुहम्मद गोरी का दरबारी कवि बताया है से लेकर जितने भी आदिकालीन भाट तथा चारण कवि हुए हैं, उन्होंने ज्यादातर वर्णनात्मक काव्य और गीत के बीच की बड़ी जोरदार रचना है।''[8] शारंगधर कवि कृत हम्मीर रासो एक ऐसा वीर काव्य है जिसमें युद्ध का ओजस्वी वर्णन सामने आता है। इसी प्रकार 'बीसलदेव रासो'' जैसी कृतियों में भी वीर–गीत ही दिखाई पड़ते हैं। जो मुक्तक काव्य के आसपास की ही रचनाएँ दिख पड़ती हैं। आगे ख़िलजी और तुगलक काल में अमीर खुसरो जैसी कवि प्रतिभाएँ सामने आती हैं। जिनकी पहेलियाँ तथा मुकरियाँ आज भी मुक्तक का रूप धर जन–मानस के मध्य बनी हुई हैं।

इस प्रकार विकास क्रम में संस्कृत काव्य के पश्चात् आदिकालीन परम्परा से गुजरते हुए जब हम धीरे–धीरे मध्यकाल की ओर कदम बढ़ाते हैं तो हमारे समक्ष पहले–पहल भक्तिकाल का स्वरूप स्पष्ट होता है। यहाँ खड़े होकर हम अनुभूत करते हैं कि जिस प्रकार से प्रबंध काव्य द्विवेदी युग की मांग थी उसी प्रकार से मुक्तक काव्य भक्तिकाल के निर्गुण संतों की वाणी की मांग थी। इस तथ्य को समझने के लिए हमें तत्कालीन समय को समझने की आवश्यकता है। वह समय एक ऐसा समय था जहाँ अंधविश्वास, छूआ–छूत, ऊँच–नीच, सवर्ण–अवर्ण का भेद बहुत अधिक व्याप्त था। देखने की बात यह है कि उत्तर भारत के कबीर से लेकर आलवार संतों तक, दादू (धुनिया), रैदास (चमार), नामदेव (दर्जी) इत्यादि सभी शूद्र थे। ''श्री दिवेकर ने महाराष्ट्र के प्रमुख संतों में गोरा और राका कुम्हार, सांवता माली, नरहरि सुनार, जोगा तेली, शामा चूड़ीवाला, बंका और चोखा महार, तथा कान्होपात्रा वेश्या के नाम गिनाये हैं।''[9] इसके साथ–साथ उड़िया के अच्युतानन्द दास प्रभृति 'पंचसखा' शूद्र थे। अतः ध्यातव्य है कि संत साहित्य के रचयिता अवर्ण थे और मध्ययुग एक ऐसा युग था जहाँ अवर्ण को पशु से भी हीन समझा जाता था। ऐसे में कबीर जैसे तर्कशील व आधुनिक बौद्धिकता के व्यक्तित्व के लिए उस भेद को प्रारब्ध मानकर पचा जाना लगभग असंभव ही था। इसलिए अनपढ़ होने पर भी शब्द उनके सामने नृत्य करते रहे। यह अलग बात है कि पहले–पहल आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने उनकी भाषा को अनगढ़ माना किन्तु आगे चलकर हम देखते हैं कि आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी उन्हें 'वाणी का डिक्टेटर' घोषित कर डालते हैं तथा उनसे इतने अधिक प्रभावित होते हैं कि उन पर 'कबीर' नामक पूरी पुस्तक ही लिख डालते हैं। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि डिक्टेटर किसी प्रबंध के बंधन में जकड़े रहकर अपना कार्य सिद्ध नहीं कर पाते। कबीर जैसा डिक्टेटर अपने मार्मिक उद्‌गारों की अभिव्यक्ति के लिए मुक्तक जैसी विधा को सहज ही चुन सकता है। इसका कारण यह है कि मुक्तक काव्य लघु होने के साथ–साथ सूक्ष्म से भी सूक्ष्म तथा मार्मिक भावों की अभिव्यक्ति करने में सक्षम होता है। जिसकी परिपक्व अभिव्यक्ति

हमें रीतिकाल में बिहारी के यहाँ दिखाई पड़ती है। बहरहाल, मुक्तक काव्य के विकास में कबीर, रैदास व दादूदयाल के साहित्य की भूमिका पर बात करते हुए हमें दो मुख्य बिन्दु दिखाई देते हैं – पहला यह है कि मुक्तक काव्य यहाँ पल्लवित न होकर पोषित हुआ है। दूसरा यह कि यहाँ मुक्तक, कवियों के संप्रेषण के निमित्त बने हैं कविता के उद्देश्य से नहीं। इसका कारण यह है कि ये संत कवि मूलतः साधक थे। ''जो अपने मत–प्रचार के लिए साखियों, सबदियों, रमैनियों की रचना करते थे। जो कभी पद्यबद्ध उपदेश होते थे, काव्यात्मक रहस्यदर्शन होते थे, सहजोछ्वसित आवेग होते थे और आलोचनात्मक फटकारें होती थीं। इसलिए इनकी कविताओं में सायासता तो एकदम नहीं है, साथ ही सृजन की प्रबुद्ध चेष्टा भी नहीं है।''[10] अतः स्पष्ट है कि संत कवियों का उद्देश्य कथा बांचना न होकर अनुभूति को शब्दाकार देना था।

इसके अतिरिक्त जब हम इस काल में मुक्तक की अनिवार्यता पर बात करते हैं तो यह भी याद रखना आवश्यक हो जाता है कि उस समय तक भारत में सामंती व्यवस्था फल–फूल रही थी। हिन्दू जनता मुस्लिम शासकों के अधीन थी। जो कि प्रायः कला प्रेमी थे। अतः इन राज दरबारों में प्रकांड पंडित और कवि सम्मानित पदों को ग्रहण किये हुए थे तथा साहित्य में एक नई भाषा प्रोत्साहित हो रही थी। मुक्तिबोध तो यहाँ तक कहते हैं कि 'उर्दू खड़ी बोली का ही मुस्लिम संस्करण हैं। आगे इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए वे बोलते हैं कि, ''दकनी हिन्दी के नाम से (शुरू में यही नाम था, वह खड़ी बोली हिन्दी भी थी और उर्दू भी) वह दक्षिण के मुस्लिम राज्यों द्वारा प्रोत्साहित की गयी। जब वह वहाँ फली–फूली तो दक्षिण भारत की राजसभाओं से साहित्यिक रूप धारण करके उत्तर भारत की राजसभाओं में आयी।''[11] तथ्य यह है कि एक तरफ तो यह परिष्कृत तथा राजाओं द्वारा पोषित 'राज साहित्यिक भाषा' और दूसरी तरफ 'जन–साधारण' की 'पंचमेल खिचड़ी।' विशेषता इस बात में है कि यहाँ साहित्यिक उत्कर्ष का मूल केन्द्र दरबारी कवि न होकर जन–साधारण थे। ''जन–साधारण प्रतिभाशाली पुत्रों को उत्पन्न कर रहे थे। वे पढ़े–लिख, अक्खड़

और गंवार, दीन और दयनीय समझी जाने वाली जनता के जीवन में आन्दोलन मचा हुआ था।''[12] रामविलास शर्मा इस सन्दर्भ में कहते हैं कि, ''इस लोकप्रियता का सबसे बड़ा कारण यह है कि धार्मिक ताने–बाने के बावजूद गीत का वास्तविक तत्त्व धार्मिक नहीं, सामाजिक है, और सामाजिक भी ऐसा जो सामंतशाही का पोषक नहीं है।''[13] अतः ये सामंती दंभ के स्थान पर मानव को मानव से मिला देने वाले धर्म के गीत हैं। तभी तो ये मानवीय धर्म के पोषण मुक्तिबोध इस कविता के संदर्भ में कहते हैं कि, ''हृदय को धोकर, भिगोकर, डुबोकर वह उठनेवाली यह भक्ति–धारा शायद ही किसी देश में इस प्रकार प्रवाहित हुई हो।''[14]

इन संत कवियों की तो आम धारणा ही यही रही है कि 'संसकीरत है कूप जल, भाषा बहता नीर'। वास्तव में इन संतों की भाषा का पूर्ववर्ती रूप नाथ संतों की भाषा से गठित हो रहा था। विशेषतः गोरखनाथ का इन पर बहुत अधिक प्रभाव दिखाई देता है। ''इसका मूल ढांचा शौरसेनी का ही था यद्यपि उस पर अवधी, भोजपुरी, राजस्थानी, पंजाबी आदि के प्रभाव कम नहीं पड़े थे। शौरसेनी अर्थात् ब्रजभाषा का एक रूप तो सूर से पहले इन संतों द्वारा ही गठित हो रहा था, वैसे शोधकों ने उत्तरकालीन अपभ्रंश की रचनाओं तथा संदेशरासक, हेमचंद्र का प्राकृत व्याकरण और प्राकृत पैंगलम की रचनाओं में भी खोजा हैं।''[15] डॉ0 जितेन्द्र नाथ पाठक का मानना है कि 'यद्यपि कबीर इत्यादि संत कवियों की भाषा के पीछे तत्कालीन लोकभाषा ही थी लेकिन उसका पूर्ववर्ती पुस्तकबद्ध रूप उपर्युक्त रचनाओं से ही पता चलता है।' विचारणीय तथ्य यह भी है कि कबीर आदि संत कवियों को अपनी भाषा गठन का वैज्ञानिक ज्ञान तो नहीं था किन्तु यह ऐसी लोक संपदा थी जिसमें ये कवि पूरी तरह से डूबे हुए थे और कहीं भाषा का शास्त्रीय ज्ञान इनके लिए बंधन नहीं बन पाया था। बन्धनों से मुक्त यही उन्मुक्तता इनके काव्य की विशेषता बनकर सामने आती है। जो इनकी मुक्त रचनाओं को लोक भाषा का महत्त्वपूर्ण दस्तावेज बना डालती है। यही कारण है कि इनकी रचनाओं में भाषा का सौन्दर्य न होने के बावजूद इनके कथन का प्रभाव बहुत

गहरा पड़ता है। इतना गहरा कि ये देश, काल की सभी सीमाओं को लांघकर आज भी आम आदमी की भाषा में उक्तियों के रूप में तथा मुक्तक काव्य के रूप में जीवित हैं।इसका एक कारण यह भी है कि इन कवियों की कथनी और करनी में कोई अंतर दृष्टिगोचर नहीं होता। सत्य आचरित वचन होने के कारण ही इनका प्रभाव अपेक्षाकृत बढ़ गया है। काव्यशास्त्र की अज्ञानता ने उनकी रचनाओं में मुक्त अभिव्यक्ति की असीम शक्ति भर दी है। इस प्रकार इनका काव्य इन संत कवियों की अपनी अनुभूतियाँ थीं जिनका सम्प्रेषण करने हेतु इन्हें लोकभाषा ही उपयुक्त पड़ी। शास्त्रीय संदर्भ से देखें तो डॉ0 भागीरथ मिश्र ने 'काव्य शास्त्र' में काव्य की आत्मा 'सत्य' को स्वीकार किया है जो कि संत कवियों के यहाँ महसूस भी की जा सकती है। अस्तु। काव्य की दृष्टि से संतों की रचनाओं का सामूहिक मूल्यांकन कठिन है। अतः हमें मुक्तक काव्य के विकास में कबीर, रैदास तथा दादूदयाल के साहित्य की भूमिका को पृथक–पृथक रूप से ही जानना होगा। इस क्रम में सबसे पहले संत कवि कबीर की चर्चा अनिवार्य हो जाती है –

''कबीर का कवित्व केवल साहित्यिक महत्त्व ही नहीं, वरन् ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। अक्खड़, बेदरकार, बेलौस, बेमुरव्वत कबीर में मानव–स्नेह का अजस्त्र निर्झर प्रवाहित होता था। उनके दोहे हम में प्राण–शक्ति का संचार करते हैं।''[16]

हिन्दी साहित्य में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी कबीर दास के काव्य का सर्वोत्तम गुण 'उनकी घर फूंक मस्ती और फक्कडाना लापरवाही बताते हैं और जिसका सहज परिणाम था अपने ऊपर अखण्ड विश्वास।' **डॉ0 श्यामसुन्दर दास** द्वारा सम्पादित **'कबीर ग्रंथावली'** में कबीर वाणी को तीन भागों में विभक्त किया गया है –**साखी, पद और रमैणी**।

इनमें से साखी एवं पद को निःसंदेह मुक्तक के अंतर्गत रखा जा सकता है। जहाँ तक रमैणी की बात है वैसे तो वह भी मुक्तक की परिभाषा में खरी उतरती है किन्तु मुझे लगता है कि वह गीति काव्य के अधिक नजदीक है।

International Journal of Research
Special Issue for UGC Approved Journal-Hindi Papers
Available at https://edupediapublications.org/journals
e-ISSN: 2348-6848
p-ISSN: 2348-795X
Volume 05 Issue 05
March 2018

कबीर की कविताई को देखते हुए हम उसे सरलता के लिए चार भागों में विभक्त कर सकते हैं –

1. उपदेशात्मक तथा नीतिपरक अभिव्यक्ति
2. साधनात्मक मुक्तक
3. उलटबासियाँ
4. व्यंग्यात्मक उक्तियाँ

पहले उपदेशात्मक मुक्तकों की बात करते हुए कबीर ग्रंथावली के कुछ उदाहरण कहने समीचीन होंगे। यथा –

(क) जब गुण कूँ गाहक मिलै, तब गुण लाख बिकाइ।
जब गुण कौ गाहक नहीं, तब कौड़ी बदले जाइ।। (पृ0 109)

(ख) निंदक नेड़ा राखिये, आंगणि कुटि बँधाइ।
बिन साबण पाँणी बिना निरमल करै सुभाइ।। (पृ0 113)

(ग) कबीर घास न नींदिये, जो पाऊँ तलि होइ।
उड़ि पड़ै जब आंखि में, खरा दुहेली होइ।। (पृ0 113)

(घ) सती संतोषी सावधान, सबद भेद सुबिचार
सतगुरू के प्रसाद थैं, सहज सील मत सार। (पृ0 97)

(ङ) कबीर यह तन जात है, सकै तो लेहु बहोड़ि।
नागे हाथूँ ते गए, जिनके लाख करोड़ि।। (पृ0 67)

ऐसे अनेकानेक उपदेशात्मक तथा नीतिपरक दोहे कबीर के मुक्तक काव्य में यत्र–तत्र बिखरे पड़े हैं। कबीर एक ऐसा व्यक्तित्व है जो अनपढ़ है। जिसे कोई शास्त्र ज्ञान नहीं है। किन्तु हाँ जीवन की गहरी अनुभूतियाँ उनके भीतर भरपूर हैं। जीवन को उन्होंने बहुत करीब से देखा,

समझा व अनुभूत किया है। उक्त मुक्तकों में कोई भी बात केवल उपदेश तक सीमित न रहकर कबीर के जीवन से निकली हुई पंक्तियाँ है। इसी के कारण इनके ऐसे सैकड़ों मुक्तक याद नहीं करने पड़ते अपितु पढ़ते या सुनते ही आत्मसात हो जाते हैं। ये मुक्तक हैं भी हमारे दैनिक जीवन के ही आसपास। इसका कारण यह है कि तत्कालीन समाज तथा दैनिक व्यवहार ही कबीर का विद्यालय रहा है। काशी जैसे पण्डितों के नगर में पलने–बढने वाले कबीर के मन में सहज ही ये प्रश्न उठा होगा कि 'मैं कौन हूँ' तथा 'धर्म क्या है' ? एक अबोध बालक जब जन्म से ही जातिवादी संकीर्णता में बांध दिया जाता है तो ऐसा प्रश्न उसके मन में कौंधना 'गल्त' या 'अजीब' नहीं लगता किंतु हाँ, अजीब यह है कि वैसी ही परिस्थितियों में कबीर जैसे असंख्य बालक पलते–बढ़ते हैं पर वे कबीर नहीं बन पाते। कबीर बनना इतना सरल भी कहाँ है? कबीर बनने के लिए तो स्वयं अपने भीतर, संयमित होकर उतरना पड़ता है। स्वयं को प्रश्नों के कटघरे में खड़ा करना पड़ता है। इतना ही नहीं साधना के तप में तपना भी पड़ता है। तब कहीं जाकर आप कबीर बनने का उपक्रम रचते हैं तथा आपकी लेखनी में सहज ही साधनात्मक अभिव्यक्तियाँ व्यक्त होने लगती हैं। ऐसा व्यक्ति 'सद्गुरू' के महत्त्व को समझता है। ईश्वर से एकाकार को तड़पता है तथा सांसारिक कार्यों को भी करते हुए निर्लेप बने रहने का प्रयास करता है। तथा चाहकर भी अपनी अनुभूतियों को पूरी तरह से व्यक्त नही कर पाता। यथा –

(क) सतगुर की महिमा अनँत, अनँत किया उपगार।
लोचन अनँत उघाड़िया, अनँत दिखावणहार।। (पृ0 49)

(ख) कबीर बादल प्रेम का, हम परि बरष्या आइ।
अंतरि भीगी आत्मँ हरि भई बनराइ।। (पृ0 51)

(ग) तूँ तूँ करता तूँ भया, मुझ मैं रही न हूँ।
वारी फेरी बलि गई, जित देखौं तित तूँ।। (पृ0 52)

(घ) इस तन का दीवा करौं, बाती मेल्यूँ जीव।

लोही सींचौ तेल ज्यूँ, कब मुख देखौं पीव।। (पृ0 55)

(ङ) सब घटि मेरा साँइयाँ, सूनी सेज न कोइ।

भाग तिन्हौ का हे सखी, जिहि घटि परगड होइ।। (पृ0 88)

कबीर सांसारिक क्रिया–कलापों को पूरा करते हुए भी तथा आर्थिक रूप से स्वावलंबी होते हुए भी जिस गहराई से तथा जिस तड़प एवं बेचैनी से 'साधना' के लिए प्रेरित करते हैं तथा अपने अनुभव बताते हैं वे निःसंदेह अतुलनीय हें। इनका प्रभाव किसी साधक को तो भीतर तक भिगोता ही होगा किन्तु इसके साथ–साथ एक पूर्णतः सांसारिक व्यक्ति भी इन पंक्तियों की छाप अपने ह्रदय की गहराई तक महसूस कर सकता है। कबीर की इस मुक्तक रूपी कविताई से लेकर जब हम इक्कीसवीं सदी तक भी कविताओं की यात्रा ने निकलते हैं तो हम यह देख सकते हैं कि यहाँ आकर भी इसे स्वीकार किया गया है। बस इस साधना शब्द के स्थान पर इक्कीसवीं सदी के कवि को 'धैर्य' शब्द अधिक उचित जान पड़ता है। यथा –

अक्सर हम जिसे साधना कहने की भूल करते हैं
दरअसल वह आदमी के भीतर/धैर्य की असाधारण खोज है
और जिसकी वजह से अभी भी/संसार में प्रेम बचा हुआ है।[17]

साधना के रास्ते पर कबीर भी प्रेम को बहुत अधिक महत्त्व देते हैं। वे कभी इसे 'अकथ कहानी' कहते हैं तो कभी 'गूंगे की शक्कर' कहते हैं। प्रेम की अभिव्यक्ति के लिए वे स्वयं को हर कसौटी पर कसते हैं कि ''कबीर यहु घर प्रेम का, खाला का घर नाहिं/सीस उतारै हाथि करि, सो पैसे घर मांहि'' (पृ0 102)

तमाम प्रकार की कसौटियाँ रखने के बाद भी जब वे ईश्वर प्रेम को अथवा प्रेम की पीर' को अभिव्यक्त नहीं कर पाते तो वे उलटबासियों का सहारा लेते हैं। इनकी उल्टबासियों को पढ़ते हुए

ऐसा जान पड़ता है मानो युग–प्रवाह में बहकर काम न चलने पर ये विपरीत चाल से वह सब अनुभूतियाँ व्यक्त कर देना चाहते हैं जो सहज, सांसारिक चाल से समझी ही नहीं जा सकतीं। यथा –

कबीर मन मृतक भया, दुरबल भया सरीर।
तब पैडे लागा हरि फिरै, कहत कबीर कबीर।। (पृ0 98)

अथवा

एक अंचभा देखा रे भाई, ठाढ़ा सिंध चरावैं गाई।
पहले पूत पीछे भइ माँई, चेला के गुरू लागै पाई।।
जल की मछली तरवर ब्याई, पकरि बिलाई मुरगै खाई।।
बैलहि डारि गूँनि घरि आई, कुत्ता कूँ लै गई बिलाई।।
तलिकर साषा ऊपरि करि मूल बहुत भाँति जड़ लागे फूल।
कहै कबीर या पद को बूझै, ताँकूँ तीन्यूँ त्रिभुवन सूझे।। (पृ0 120)

ऐसा लगता है मानो संत कबीर की उलटबासियाँ जिन्होंने साधना के स्तर पर समझ लीं वे तो मौन हो गए तथा सांसारिक शोध करते हुए जो इन्हें समझने का प्रयास कर रहे हैं, उनके लिए यह अभी भी अबूझ पहेली ही बनी हुई हैं। जीवन की निस्सारता को समझने के पश्चात् जब कबीर समाज को पुनः करीब से देखते हैं तो हिन्दू मुसलमानों के सामाजिक व धार्मिक प्रपंचों को देखकर क्षुब्ध हो जाते हैं। अपनी क्षुद्धा को वे तर्क सम्मत बात के द्वारा शांत करते हैं। ऐसे में सहज ही उनकी कविता व्यंग्यात्मक बन गई है। यथा –

पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुवा, पंडित भया न कोइ।
एकै आषिर पीव का, पढ़ै सु पंडित होइ।। (पृ0 78)

तथा

जे तूँ बाँभन बभनी जाया, तो आँन बाँट काहे न आया।

जे तूँ तुरक तुरकनी जाया, तो भीतरि खतनाँ क्यूँ न कराया।। (पृ0 127)

इतने तीखे कटाक्ष होने के बावजूद कबीर का मुक्तक काव्य भीतर तक उतरता चला जाता है। कबीर मुक्तक काव्य को किसी काव्यगत इच्छा के साथ आगे नहीं बढ़ा रहे अपितु यह सम्पूर्ण काव्य उनके संप्रेषण का माध्यम मात्र है। इसके बावजूद सहजता में कबीर में कविता की 'प्रतिभा' दिखाई पड़ती है। जिसे काव्य का आधारभूत गुण स्वीकार किया गया है। उसी गुण के बल पर कबीर अपने मुक्तक काव्य की सृष्टि ही नहीं करते अपितु उसमें अनेकानेक प्रयोग भी करते हैं। उनका हर प्रयोग पाठक का ध्यानार्जित करने के साथ–साथ उसके भीतर उतरकर, उसकी वाणी का हिस्सा बन जाता है।

मुक्तक के विकास में जब हम कबीर के पश्चात् रैदास के साहित्य की भूमिका पर विचार करते हैं तो हम पाते हैं कि रैदास ''भारतीय संस्कृति में व्याप्त उस पुरोहित वर्ग के वर्चस्व का प्रतिवाद करते हैं, जिसने अपने प्रपंची अनुष्ठानों के माध्यम से ईश्वर को 'अपने ईश्वर' में बदल दिया है।''[18] वास्तव में 'संत रविदास' कबीर के समसामयिक ही माने जाते हैं। अंतः साक्ष्यों के आधार पर रैदास चर्मकार जाति के सिद्ध होते है। 'चर्मकार' होना कबीर के समकालीन तथा मध्ययुगीन रैदास को व्यथित नहीं करता। उन्हें व्यथित करता है तो केवल सामाजिक भेदभाव तथा तत्कालीन समाज में व्याप्त पाखंड। जिससे सामना करने के लिए उन्हें भारी संघर्ष करना पड़ा। किवदन्तियों के रूप में समाज में उनके बहुत से चमत्कार भी प्रचलित हैं। जो उन्होंने मनुष्य में समानता की भावना को प्रोत्साहित करने के लिए किए थे। वास्तव में ही जो एक बार सौभाग्यवश उनके संतत्व के प्रभाव में आ गया वो उनका ही हो गया। आज उनके ''अध्यापन के अनुयायी को रविदासिया कहा जाता है और रविदासिया के समूह को अध्यापन को रविदासिया पंथ कहा जाता है। गुरू ग्रंथ साहिब में उनके द्वारा लिखा गया 41 पवित्र लेख है। जो इस प्रकार है; ''रागा–सिरी

(1), गौरी (5), असा(6), गुजारी (1), सोरथ (7), धनसरी (3), जैतसारी (1), सुही (3), बिलावल (2), गौड (2), रामकली (1), मारु (2), भाईरऊ (1), बसंत (1) और मलहार (3)।''[19] गुरू ग्रंथ साहिब के अतिरिक्त भी उनके बहुत से ऐसे प्रमाणिक पद हैं जिनके आधार पर इनके मुक्तक काव्य को जांचा–परखा जा सकता है। यद्यपि संतगुरू रविदास जी ने मानव धर्म के प्रचार के लिए भारत ही नहीं अपितु अरब देशों में भी यात्राएँ कीं। जिन्हें 'उदासियाँ' भी कहा जाता है के अन्तर्गत अनेकानेक धर्मगुरूओं से मिले तथा मनुष्य की सामनता की बात करते हुए बहुत से मुक्तक पद कहे किन्तु वह पदावली संपूर्ण रूप से तो अप्राप्य ही है। हाँ उसका बहुत सा हिस्सा अवश्य बचा लिया गया किन्तु संतों की वाणी को पूर्णतः समेटना दुरूह कार्य ही है। अस्तु।

वास्तव में कबीर के समकालीन होकर जब रैदास जी अपनी बात उन्हीं की तरह मुक्तक काव्य के माध्यम से कहते हैं तब भी अन्तर की एक स्पष्ट रेखा हम इन दोनों कवियों की वाणी में देख सकते हैं। जहाँ तक समानता की बात है तो प्रमुख समानता तो इन कवियों की यही है कि इनके काव्य में अभिव्यक्त पीड़ा इनकी अपनी भोगी हुई पीड़ा है क्योंकि ये दोनों संतकवि तत्कालीन समाज में निम्न समझी जाने वाली जातियों से संबंध रखते थे। जहाँ तक वैषम्य की बात है तो इनके मुक्तक काव्य का प्रमुख वैषम्य तो सही है कि जो अक्खड़ तथा क्रांतिकारी भाषा हमें कबीर के यहाँ दिखाई पड़ती है वह न तो रैदास के यहाँ तथा न ही दादूदयाल के यहाँ ही दिखाई पड़ती है। इसका कारण यह भी हो सकता है कि कबीर इन संतों की श्रेणी में अग्रणी हैं और जो पांत में सबसे आगे होगा उसका संघर्ष भी अपेक्षाकृत अधिक होगा। जीवनानुभव उसे सेनापति की तरह कठोर तथा अनुशासित बना ही देंगे। भले ही उनके भीतर प्रेम का अजस्त्र सोता बहता हो। यही कारण है कि सामाजिक आडम्बरों का प्रतिकार करते हुए कबीर की वाणी ओज युक्त क्रांतिकारी वाणी बनकर हमारे सामने आती है। इस प्रकार कबीर से इतर रैदास के मुक्तक काव्य पर बात करते हुए हमारे समक्ष मुख्यतः तीन प्रकार का काव्य आता है –

1. जातीयता के प्रतिपक्ष में मानवधर्म का काव्य
2. श्रम के महत्त्व का काव्य
3. साधनात्मक काव्य

जातीयता के प्रतिपक्ष में रचे गए मानवधर्म के काव्य की बात आरम्भ करते हुए **'ममता झा'** द्वारा संपादित **'संत रविदास रत्नावली'** में निहित उनके काव्य के कुछ उदाहरण आवश्यक हो जाते हैं। यथा –

(क) जन्म जाति कू छाड़ि कर करनी जात प्रधान,
इहयो वेद को धर्म है करै रविदास बखान। (पृ0 43)

(ख) रविदास जन्म के कारनै होत न कोऊ नीच।
नर कू नीच करि डारि है ओछे करम की कीच।। (पृ0 43)

(ग) रविदास ब्राह्मण मत पूजिए जऊ होवे गुन हीन।
पुजहिं चरन चंडाल के जऊ होवे गुन परवीन।। (पृ0 44)

(घ) जात–पाँत के फेर मंहि उरभि रहइ सब लोभ।
मानुषता कूँ खात हइ रविदास जात कर रोग।। (पृ0 144)

मानव धर्म की स्थापना करते हुए ये मुक्तक हर प्रकार के जातिवादी बंधन को काटकर मनुष्यता का पाठ पढ़ाते हैं। यहाँ देखने की बात यह है कि रैदास भी कबीर की तरह तर्कसम्मत बात करते हैं। इनकी वाणी में ऐसी तार्किकता है जो पढ़े–लिखे पण्डित समाज की भेड़चाल न होकर स्वयं की स्थापनाएँ हैं तथा जिनमें जीवन का सच्चा सार छुपा हुआ है। इससे आगे जब हम रैदास के श्रम के महत्त्व को प्रस्तुत करते काव्य की बात करें तो हमें फिर से कुछ उदाहरणों का सहारा लेना होगा। यथा –

(क) रविदास श्रम करि खाइहि जौ लौं पार बसाय।

नेक कमाई जउ करइ कबहुँ न निहफल जाय। (पृ0 143)

(ख) श्रम कउ ईसर जानि कै जउ पूजहि दिन–रैन।

रविदास तिन्हहि संसार मंह सदा मिलहि सुख–चैन। (वही)

(ग) प्रभु भगति स्त्रम साधना जग मंह जिन्हहिं पास।

तिन्हहि जीवन सफल भयो सत्त भावै रविदास।। (वही)

(घ) धरम करम दुह एक हैं समुझि लेहु मन मांहि।

धरम बिना जौ करम है रविदास न सुख तिस मांहि।। (पृ0 143)

देखने की बात यह है कि एक संत जब समाज का प्रतिनिधित्व करता है तो जनता उसके अनुसार जीवन जीने का प्रयास करने लगती है। यहाँ ये संत अपने मुक्तक काव्य में जनता को आँख मूँदकर माला फेरते हुए जीवन जीने का उपदेश नहीं दे रहा। अपितु वे तो समाज में कर्मठता को स्थापित करने हेतु प्रयत्नरत् हैं। श्रम उनके लिए ईश्वर को पाने का माध्यम है। वे धर्म तथा कर्म में कोई अंतर ही नहीं सोचते तथा इसे वे नेक कमाई की संज्ञा देते हैं। यहाँ विचारणीय तथ्य यह है कि कबीर, रैदास तथा दादू तीनों ही समाज में उस स्थान को पा चुके थे कि मात्र भेंट या चढ़ावे से ही बहुत मजे से जीवन यापन कर सकते थे किन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया। वे जीवन के अन्तिम दिनों तक भी श्रमशील बने रहे। इन संत कवियों ने ऐसी सरल भाषा में श्रम के महत्त्व को बताकर तत्कालीन समाज पर तो उपकार किया ही साथ में भावी समाज को भी जीवनव्यापी समझ से सराबोर किया। इनकी वाणी बड़ी सरलता तथा सहजता के साथ पाठक पर यहाँ दो प्रकार का प्रभाव डालती दिखाई पड़ रही है। पहला यह कि इसे पढ़कर पाठक पर भी श्रम के महत्त्व की छाप अंकित होती है तथा दूसरे जब पाठक स्वयं श्रम करने लगता है तो यह संत वाणी मुक्तक रूप में स्वयं उसकी भाषा का ही हिस्सा बन जाती है। इस प्रकार ये मुक्तक आज भी मनुष्य के चेतन, अवचेतन में साथ चलते दिखाई पड़ते हैं।

इसके पश्चात् जब हम रैदास के साधनात्मक काव्य के अन्तर्गत मुक्तक भी बात करते हैं तो यहाँ भी कुछ उदाहरण समीचीन होंगे। यथा –

(क) रविदास पीव इक सकल घट बाहर भीतर सोई।
सब दिस देखऊ पीव पीव दूसर नोहि कोइ।। (पृ0 124)

(ख) गगन मंडल पिउ रूप सों कोट भान उजियार।
रविदास मगन मनुआ भया पिआ निहार निहार।। (पृ0 125)

(ग) सुरत शब्द जउ एक हों तउ पाइहिं परमानंद।
रविदास अंतर दीपक जरई घर उपजई ब्रह्मनंद।। (पृ0 137)

(घ) रविदास दिआ जगमग जरई बिन बासी बिन तेल।
सुरत साधि कर हिय मंहि देख पिया के खेल।। (पृ0 137)

(ङ) रविदास जन्मे कउ हरस का मरने कउ का सोक।
बाजीगर के खेल कूँ समझत नाहीं लोक।। (पृ0 138)

इस प्रकार रविदास जी के साधनात्मक मुक्तक देखने पर हमारे समक्ष दो तथ्य उजागर होते हैं –

पहला यह कि वे ईश्वर के साक्षात्कार का आधारभूत तथ्य सद्गुरू को मानते हैं तथा दूसरा यह कि उनकी साधना का मूल यही है कि 'ईश्वर सृष्टि के कण–कण में व्याप्त है। उसे पाने के लिए वे 'श्रम' तथा 'समता' को महत्त्व देते हैं। आप कबीर की ही तरह अपने संपूर्ण साहित्य में पोंगा–पंडितों तथा मुल्लाओं के बाह्याडम्बरों की पोल खोलते हैं किन्तु फटकार की भाषा में नहीं। आपका मुक्तक काव्य इतना सरल, सहज और तर्कसम्मत है कि अपनी तार्किकता के चलते वह स्वयं भी भीतर पैठकर लोकभाषा की तरह प्रयुक्त होने लगता है। अन्य शब्दों में कहूँ तो इन मुक्तकों को याद रखना प्रयास जन्य न होकर सहजता जन्य है।

कबीर एवं रैदास की तरह ही दादूदयाल जी की भी संपूर्ण वाणी अप्राप्य है। इनकी वाणी की कितनी रचनाएँ उपलब्ध हैं, इस विषय में विद्वानों की अलग–अलग राय है। दादू जी की वाणी को संकलित करने का कार्य सर्वप्रथम इनके शिष्यों संतदास एवं जगन्नाथ ने किया, जिसका नाम इन्होंने 'हरडे वाणी' रखा था। इसके बाद इनकी वाणी के संकलन का एक लंबा सिलसिला है। जैसे मुम्बई, काशी, अजमेर, इलाहाबाद, लाहौर, बलिया इत्यादि के प्रकाशन संस्थानों से इनकी वाणी प्रकाशित हो चुकी है। इतना सब प्रकाशित होने के बाद भी न तो दादू जी का रचनाकाल तथा न ही जीवनवृत स्पष्ट है। यहाँ तक कि कबीर के 'कपड़ा बुनने' तथा रैदास के 'चर्मकार' होने जैसी कार्मिक पुष्टि भी दादूदयाल जी की नहीं हो पाती। जीविका की बात उठते ही दादूदयाल की जाति का भी प्रश्न उठता है। जिसका कोई प्रमाणिक दस्तावेज हमारे पास उपलब्ध नहीं है किन्तु हाँ, इतना अवश्य तय है कि अन्य संत कवियों की तरह दादूदयाल भी अशिक्षित थे। यह अशिक्षा उनके आत्मज्ञान में बाधक नहीं बन पाई थी। दादू के शिष्य सुन्दरदास ने अपनी रचना में स्पष्ट लिखा है कि उन्होंने अपने सम्प्रदाय का नाम 'परब्रह्म सम्प्रदाय' रक्खा था। दादूदयाल की वाणी भी हमें मुक्तक के रूप में ही दिखाई पड़ती है। इनके काव्य में कबीर और रैदास की तरह समाज से टकराहट या संघर्ष दिखाई नहीं पड़ता अपितु इनकी वाणी में केवल साधनात्मक सूत्र ही हाथ पड़ते हैं। यद्यपि दादू जी भी अपने मुक्तक काव्य में एक ईश्वर पर ही विश्वास करते हैं जो कि निराकार, सर्वशक्तिमान तथा सर्वव्यापक है किन्तु वे खंडन–मंडन का चुनाव नहीं करते। इनकी साधना में श्रृंगार के दोनों रूपों –संयोग तथा वियोग में से वियोग श्रृंगार का वर्णन अधिक मिलता है। आप अपने मुक्तक काव्य में गुरु के महत्त्व को वर्णित करते हुए कहते हैं कि –

राम नाम उपदेश करि, अगम गवन यहु सैन।
दादू सतगुरु सब दिया, आप मिलाए ऐन।।[20]

ईश्वर प्रेम के अन्तर्गत 'वियोग' वर्णन करते हुए दादूदयाल स्पष्ट करते हैं कि –

(दादू) बिरह जगावै दरद कों, दरद जगावै जीव।
जीव जगावै सुरति को, पंच पुकारे पीव।
सहजैं मनसा मन सधै, सहजै पवना सोइ।
सहजैं पंछी थिर भये, जे चोट विरह की होय।।[21]

तथा

बिन ही नैनहु रौवणाँ, बिन मुख पोड़ पुकार।
बिन ही हाथों पीटणाँ, दादू बारम्बार।। (पृ0 153)

एवं

बिरहा मीत मेरा है, बिरहा बैरी नाहिं।
बिरहा को बैरी कहै, सो दादू किस माँहिं।। (पृ0 155)

ईश्वर को हर रूप में देखते हुए दादू दयाल उसे घट–घट व्यापी बताते हैं। वे मनुष्य के भीतर बैठे ईश्वर के दर्शन करते है एवं मानते हैं कि 'मैं' को भूलकर ही ईश्वर का साक्षात्कार संभव है। इन के मुक्तकों की प्रत्येक पंक्ति मुक्त होकर भी ईश्वर प्रेम के बंधन में बंधी हुई है। सबके भीतर ईश्वर के तत्व को व्याप्त देखकर ही वे सहज भाव से कहते हैं कि –

(क) आतम भाई जीव सब, एक पेट परिवार।
दादू मूल विचारिये, (तौ) दूजा कौन गँवार।। (पृ0 169)

(ख) किससो बैरी है रह्या, दूजा कोई नाँहिं।
जिसके अंग थे ऊपजैं, सोई है सब माँहिं।। (पृ0 170)

(ग) (दादू) सूका सहजैं कीजिये, नीला भानै नाँहिं।
काहेकौं दुख दीजिये, साहिब है सब मांहि।। (पृ0 170)

इस प्रकार दादू साहिब के मुक्तक काव्य के अंतर्गत ईश्वर की अवधारणा समझते हुए हमें यह ज्ञात होता है कि दादू अन्य संतों की तरह आत्मसुख में जिसे तुलसीदास 'स्वान्तसुखायः' का नाम देते हैं के लिए काव्य रचना कर रहे हैं। इन मुक्तकों के माध्यम से वे स्वानुभूत सत्य को उजागर करना चाहते हैं। इन्हीं के माध्यम से वे किसी सामाजिक सत्य पर ऊँगली न उठाकर भी हर तरह के द्वेष, ईर्ष्या तथा भेदभाव से समाज को मुक्ति दिलाना चाहते हैं।

दादू मुक्तक काव्य में हमें रहस्यानुभूति के भी दर्शन होते है। यथा –

(क) चल दादू तहँ जाइये, जहाँ जम जोरा को नाहिं।
काल मीच लागै नहीं, मिलि रहिये ता माहिं।।[22]

(ख) एक देश हम देखिया, तहाँ रूति नहिं पलटे कोइ।
हम दादू उसे देश के, जहाँ सदा एक रस होइ।। (वही)

(ग) आशिक मासूक ह्वै गया, इशक कहावै सोइ।
दादू उस मासूक का, अल्लाहि आशिक होइ।।[23]

इस रहस्यवादी मुक्तक काव्य में सहज ही इस बात का अंदाजा लगाया जा सकता है कि एक साधक के रूप में दादूदयाल पूर्णतः सध चुके थे। वे जीवन–मृत्यु से भी ऊपर उठ चुके थे। वास्तव मे जीवन में जो छुपा हुआ है वही रहस्य है और जब इन संत कवियों ने 'मैं कौन हूँ' के प्रश्न के साथ अपनी यात्रा आरंभ की तो गुरुकृपा से वे ईश्वर से एकाकार संभव कर पाये। उन्हें पढ़कर ऐसा जान पड़ता है कि ईश्वर को पाने के बाद इन संतों ने जब अपनी अनुभूतियों को वाणी से व्यक्त करना चाहा तो वह काव्य एक आम पाठक के लिए 'रहस्यवाद' के अन्तर्गत समाहित हो गया। यद्यपि पीछे कबीरदास जी की उल्टबासियों की भी बात की गई है तथा अब रहस्यवाद की बात हो रही है किन्तु मैं समझती हूँ कि उस स्तर तक पहुँचे बिना इन्हें पूरी तरह से समझना अत्यंत कठिन है। शायद यहाँ ये संत कवि भी अपने भावों को पूरी तरह से अभिव्यक्त नहीं कर पाए

हैं इसीलिए कबीर भी 'गूंगे केरी' शब्द का सहारा लेते दिखाई पड़ते हैं। दादूदयाल रहस्यवाद का संबंध प्रेम से व्यक्त करते हुए काव्य रचना करते हैं तथा कहते हैं कि –

(क) दादू हरि रस पीवतां, कबहुँ अरूचि न होइ।
पीवत प्यासा नित नवा, पीवण हारा सोइ।। (पृ0 195)

(ख) रोम रोम रस पीजिये, एती रसना होइ।
दादू प्यासा प्रेम का, यौं बिना तृप्ति न होइ।। (वही)

(ग) ज्यों–ज्यों पीवै राम रस, त्यों–त्यों बढ़ै पियास।
ऐसा कोई एक है, विरला दादू दास।। (वही)

इस प्रकार कबीर जिसे 'अकथ कहानी प्रेम की' कहकर प्रेम को स्थापित करते हैं वहीं दादू भी ऐसे अनेकानेक मुक्तकों के माध्यम से अपने ईश्वर प्रेम को व्यक्त करना चाहते हैं। उनका भाव यह भी है कि इस प्रेम की पिपास हर किसी को नहीं लगती अर्थात् हर कोई कबीर, रैदास या दादूदयाल नहीं बना सकता अपितु यह तो ईश्वर साक्षात्कार के लिए तड़प, बेचैनी तथा छटपटाहट है जो कर्मठ रहते हुए इन कवियों को संत अथवा संतों को कवि बना डालती है।

इस प्रकार मुक्तक काव्य के विकास में कबीर, रैदास एवं दादूदयाल के साहित्य की भूमिका पर विचार करते हुए संयुक्त रूप में हमारे समक्ष यह तथ्य उजागर होते हैं कि –

1. इन तीनों संत कवियों में सहज काव्य प्रतिभा विद्यमान थी।
2. इन कवियों ने 'स्वान्तसुखाय' साहित्य की रचना की।
3. इनका काव्य किसी भी प्रकार के प्रबंध से मुक्त काव्य है।
4. अशिक्षित होने के कारण इनके काव्य में व्याकरणित त्रुटियों को नजरअंदाज किया जाना आवश्यक हो जाता है।

इस प्रकार इन तथ्यों को देखते हुए हमें ज्ञात होता है कि इन कवियों ने प्राचीनकाल से चली आ रही मुक्तक काव्य परम्परा को अनायास ही आगे बढ़ाया है। वे एक कवि के रूप में इसे आगे बढ़ाने में सायास प्रयत्नशील न होने के बावजूद केवल जनता से सम्प्रेषण करने की तड़प में अचानक ही इस क्षेत्र में भी अपना योगदान दे डालते हैं। इन कवियों द्वारा तैयार की गई यह मुक्तक काव्य भूमि इतनी उर्वर है कि आगे चलकर 'रीतिकाल' में इस पर अनेकानेक कवियों के काव्य के पुष्प महकते हैं। मुक्तक काव्य के नाम पर सहज ही साहित्य जगत को याद आ जाने वाले रीतिसिद्ध कवि 'बिहारी' को भक्तिकाल के संतकवि एक मजबूत पृष्ठाधार प्रदान करते दिखाई पड़ते हैं। वास्तव में इन तीनों संत कवियों ने भावों के धारा–प्रवाह में बहकर जो कह डाला वह संकलित होकर काव्य रूप में सामने आ गया। भावों का ऐसा प्रवाह किसी भी प्रकार के 'प्रबंध' में बंधना संभव ही नही हो सकता।

संदर्भः–

1. बाबू गुलाबराय, काव्य के रूप, पृ0 80, आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली (1970)
2. डॉ0 अमरनाथ, हिन्दी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली, पृ0 284, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली (छात्र संस्करण, 2015)
3. डॉ0 जितेन्द्र नाथ पाठक, उद्धृतः मध्यकालीन हिन्दी मुक्तक : उद्भव और विकास, पृ0 21, विभू प्रकाशन, साहिबाबाद (1948)
4. उद्धृतः वही, पृ0 22
5. वही, पृ0 51
6. डॉ0 अमरनाथ, उद्धृत : हिन्दी आलोचना की परिभाषिक शब्दावली, पृ0 284
7. वही

8. गजानन माधव 'मुक्तिबोध', भारत : इतिहास और संस्कृति, पृ0 147, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली (2014)
9. डॉ0 ओमप्रकाश, उद्धृतः प्राचीन हिन्दी काव्य, पृ0 65, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली (1975)
10. डॉ0 जितेन्द्र नाथ पाठक, भक्ति तथा रीतिकालीन मुक्तक काव्य, पृ0 49, विभू प्रकाशन, साहिबाबाद (1981)
11. गजानन माधव मुक्तिबोध, भारत : इतिहास और संस्कृति, पृ0 148
12. वही, पृ0 149
13. रामविलास शर्मा, भाषा, युगबोध और कविता, पृ0 48, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली (संस्करण 2010)
14. गजानन माधव मुक्तिबोध, भारत : इतिहास और संस्कृति, पृ0 149
15. डॉ0 जितेन्द्र नाथ पाठक, मध्यकालीन हिन्दी मुक्तक : उद्भव और विकास, पृ0 282
16. गजानन माधव मुक्तिबोध, भारत : इतिहास और संस्कृति, पृ0 149
17. यतीन्द्र मिश्र, ड़योढी पर आलाप, पृ0 64, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
18. सं ममता झा, संत रविदास रत्नावली, पृ0 7, प्रभात पेपरबैक्स, नई दिल्ली
19. WWW. hindikiduniya.com, संत रविदास (रैदास) – जीवनी, तथ्य, मृत्यु इत्यादि
20. डॉ0 सन्त नारायण उपाध्याय, उद्धृत दादूदयाल : जीवन, दर्शन और काव्य, पृ0 183, प्रभात कुमार उपाध्याय प्रकाशन, कलकत्ता
21. वही, पृ0 150
22. डॉ0 वासुदेव शर्मा, संत कवि दादू और उनका पंथ, पृ0 201, शोध–प्रबंध, प्रकाशन, नई दिल्ली (1969)
23. वही, पृ0 201